



पुरुषोत्तम अग्रवाल



आज की सभा के अध्यक्ष आदरणीय राहीजी, अनुपमजी, बाबू लालजी, सम्मानित मित्रो, देवियो और सज्जनो- मेरे लिए यह निश्चय ही बहुत गौरव और सम्मान का विषय है कि इस प्रतिष्ठित व्याख्यान को देने का अवसर इस साल मुझे मिला है। विषय की विचित्रता और विशदता, गांधी-विचार की अपनी गम्भीरता और मुझसे पहले, पिछले आठ-दस बरसों में जो लोग ये व्याख्यान दे चुके हैं, उनकी श्रेष्ठता, इन सब चीजों से मैं वाकिफ हूँ। और इसीलिए मन में गहरा संकोच है, कृतज्ञता के बावजूद, सच कहें तो डर है...।

अपनी अपात्रता का बोध है। ये व्याख्यान श्री नारायण देसाई, यशपाल जैन, श्रीमती कपिला वात्स्यायन, डॉ. नामवर सिंह, स्वामी अग्निवेश, प्रभाष जोशी, रजनी बख्शी आदि दे चुके हैं। इतने गौरवपूर्ण व्याख्यान के लिए मुझे अवसर दिया गया; इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। और ये न्योता मैंने स्वीकार कर लिया इस पर मैं चकित हूँ। जब इस व्याख्यान के बारे में थोड़े व्यवस्थित रूप से सोचने लगा तो सबसे पहले मुझे भर्तृहरि याद आए। उनकी एक उक्ति बहुत उचित है। जीवन में हर जगह काम आने वाली उक्ति है: जानने वालों के बीच में, जानकारों के समाज में चुप रहना ही अपण्डित लोगों को शोभा देता है। 'सर्वविदाम् समाजे मौनम् विभूषणमपण्डितानाम्'। पण्डितों की सभा में मैंने जैसा व्यक्ति चुप रहे शोभा तो यही देता है।

फिर भी यहाँ मैं बोलने को खड़ा हो गया हूँ। क्या कारण है? एक कारण तो आदत से जुड़ा हुआ है। अध्यापक हूँ, बोलने की आदत है। दूसरा, उससे ज्यादा महत्वपूर्ण कारण अनुपमजी और बाबू लालजी जैसे मित्रों का स्नेह है जिन्होंने वामपंथी होने के बावजूद मुझे यहाँ बोलने का अवसर दिया। उनके स्नेह और कृपा के लिए धन्यवाद। तीसरा और सबसे गहरा कारण मुझे लगा कि वामपंथी होने के बावजूद— इस टुकड़े को मैं फिर से रेखांकित करना चाहता हूँ— गांधीजी के प्रति अपना अनुराग, गांधीजी के प्रति अपनी संवादधर्मी आस्था और गांधीजी के प्रति अपना गहरा लगाव कई बार खुद मुझे चकित करता था। मैं समझना चाहता हूँ इसे। और ये व्याख्यान अपने आपको समझने और उस समझ को आपके सामने रखने की एक कोशिश है। इसलिए इसे मैंने स्वीकार कर लिया।

गांधीजी ने अपनी आत्मकथा के आमुख में एक बहुत ही मार्मिक घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने आत्मकथा लिखने का निर्णय किया। गांधीजी लिखते हैं कि, एक निर्मल भाई ने मुझसे पूछा कि आत्मकथा लिखने की कोई परंपरा भारत में नहीं है। आत्मकथा एक ठेठ पाश्चात्य विधि है। आप क्यों आत्मकथा लिखने बैठ गए? गांधीजी लिखते हैं कि 'मुझे उनकी बात में दम नजर आया। लेकिन फिर भी मैं ये आत्मकथा लिख रहा हूँ क्योंकि असल में ये कोई आत्म की कथा है नहीं। ये तो मेरे प्रयोगों की कथा है। और मुझे लगता है कि मेरे प्रयोगों से शायद दूसरों का भी कुछ लाभ हो। इसलिए मैं इसको लिख रहा हूँ।' और इस क्रम में गांधीजी ने अंतर किया अपने राजनीतिक प्रयोगों में और आध्यात्मिक प्रयोगों में। गांधीजी ने कहा कि मेरा जीवन इतना सार्वजनिक है कि मेरी राजनीति सब लोग जानते हैं उसकी जानकारी सबको है। अपने बहुत ही प्रसिद्ध लेकिन कम सराहे गए सेन्स ऑफ ह्यूमर के साथ गांधीजी ने लिखा कि अब तो मेरे राजनैतिक प्रयोगों की चर्चा सभ्य देशों में भी होने लगी है। और सभ्य शब्द को उन्होंने 'इनवर्टेड कॉमाज' में रखा। और मैं गांधीजी का वो वाक्य यहाँ पढ़ना चाहता हूँ, "मैं आत्मकथा लिख रहा हूँ," गांधीजी ने लिखा, "अपने आध्यात्मिक प्रयोगों को समझने और लोगों तक उन्हें पहुँचाने के लिए। मुझे अपने आध्यात्मिक प्रयोगों को, जिन्हें मैं ही जान सकता हूँ, और जिनसे मेरी राजनीतिक जीवन संबंधी शक्ति पैदा हुई है, उन प्रयोगों का वर्णन करना अवश्य भाएगा। ज्यों-ज्यों मैं विचार करता हूँ— अपने अतीत पर दृष्टि डालता हूँ, त्यों-त्यों अपनी अल्पता

मुझे साफ दिखाई देती है।” मुझे लगा कि गांधीजी का ये वाक्य मेरे जैसे छोटे व्यक्ति के लिए भी दीपक का काम करता है। ज्यों-ज्यों अपने अतीत पर दृष्टि डालता हूँ, मुझे अपनी अल्पता साफ दिखाई देती है। और उस अल्पता के प्रयोगों को ही आपके सामने रखने की धृष्टता का परिणाम है ये व्याख्यान।

व्याख्यान का विषय मैंने स्वयं चुना था। ‘मजबूरी का नाम महात्मा गांधी’ ये मैं भी मानता था बहुत लम्बे असें तक। मैं भी इसे कहता था। अल्पता के बोध के साथ कह सकता हूँ कि तब ‘रहूँ अति ही अचेत’ जब कहा करता था कि मजबूरी का नाम महात्मा गांधी। धीरे-धीरे मैंने महसूस किया और गौर से सोचें तो हम सब महसूस कर सकते हैं कि असल में मजबूरी हिंसा है। हिंसा दृढ़ता और शक्ति को प्रकट नहीं करती। हिंसा मजबूरी को प्रकट करती है। मैं आज तक किसी ऐसे व्यक्ति विचार या सत्ता के सम्पर्क में नहीं आया हूँ जिसने हिंसा करते हुए ये न कहा हो कि हम तो हिंसा के लिए मजबूर थे। राज्यसत्ता हिंसा करती है क्योंकि उसे व्यवस्था बनाए रखने की मजबूरी है। क्रांतिकारी हिंसा करते हैं क्योंकि राज्य सत्ता ने उन्हें विवश कर दिया है उन्हें मजबूर कर दिया है कि वो हिंसा करें। अध्यापक हिंसा करते हैं क्योंकि बिना हिंसा और अनुशासन के बच्चों को सिखाया नहीं जा सकता। बच्चे हिंसा करते हैं क्योंकि हिंसा के बिना समाज सुनने को तैयार नहीं है। तो इस उलटबाँसी को हम आत्मसात किए बैठे हैं और केवल हम ही नहीं सारी दुनिया आत्मसात किए बैठी है कि अहिंसा मजबूरी का प्रमाण है और हिंसा ताकत का। मुझे लगता है कि बात उल्टी है। असल में; स्वयं हिंसा करने वालों पर अगर आप ध्यान दें चाहे वो सरकारी अफसर के तौर पर हिंसा करते हों, चाहे वो विचार में हिंसा को सही ठहराते हों, चाहे वो राज्यसत्ता के रूप में हिंसा करते हों। स्वयं हिंसा करने वालों पर अगर आप ध्यान दें, तो आप पाएँगे कि हर हिंसक व्यक्ति और विचार अपने आपको परिस्थितियों के मजबूर दास के रूप में प्रस्तुत करके ही अपने नैतिक संकट का समाधान कर पाता है।

मुझे इस बात का एहसास बहुत देर से हुआ। और इस एहसास को उपलब्ध कराने में बहुत सी चीजों का, बहुत से व्यक्तियों का योगदान था। और इसमें सबसे महत्वपूर्ण योगदान था एक मेरे मित्र का मैं उनके इस योगदान को मैं सार्वजनिक रूप से कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना चाहता हूँ, मैं उन्हें शिक्षक और गुरु नहीं कहूँगा क्योंकि इन दोनों शब्दों पर अजीब-अजीब तरह के भार आज

के जमाने में पड़े हुए हैं। हर कोई शिक्षक हो जाता है और गुरु लोग तरह-तरह के होते हैं। इसलिए शिक्षक या गुरु नहीं कहूँगा, लेकिन हिंसा का संबंध गहरी नैतिक मजबूरी बल्कि अपंगता से है इस बात का गहरा बोध मुझे अपने जीवन में कराया मेरे मित्र और सिखावनहार दिलीप सीमियन ने मेरे लिए ये गौरव का विषय है कि इस सभा में श्रोता के तौर पर मौजूद हैं। इस अल्पता और अल्पज्ञता के साथ मैं इस यात्रा को आपके सामने बाँटना चाहता हूँ—मजबूरी का नाम महात्मा गांधी से मजबूती का नाम महात्मा गांधी तक की यात्रा। जाहिर है कि ये यात्रा गांधी की नहीं है। ये यात्रा मेरी है। और इसलिए संकोच दूर हो सकता है कि 'वामपंथी होने के बावजूद' मुझे बुला लिया। आखिरकार ऐसी यात्रा करने का अधिकार तो वामपंथियों को भी है ही!

28 दिसम्बर 1986 को मैंने अपनी डायरी में लिखा था, लिखा क्या था एक टिप्पणी नोट की थी। उसी दिन के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में, एक लेख छपा था। शीर्षक था 'वायलेन्स दैट इज इण्डिया'। लेखक का नाम नहीं था। लेख विशेष संवाददाता के नाम से था। लेकिन जिन भी सज्जन या देवी ने वो लेख लिखा था, मानना होगा कि उनमें गहरी दूर दृष्टि थी। और दूर तक वो देख सकते थे या देख सकती थीं। उन्होंने लिखा था इस समय भारतीय समाज के मध्य वर्ग को परिभाषित करने वाला तत्व है भय और असुरक्षा। इस भय और असुरक्षा का परिणाम यह होने वाला है, बहुत पते की बात कही थी उस व्यक्ति ने कि एक तो इस समाज में स्वाधीनता का निरंतर वर्द्धमान क्षरण होगा। स्वाधीनता धीरे-धीरे समाज में घटती जाएगी। और दूसरा उन्होंने लिखा कि धीरे-धीरे इस समाज में आप देखेंगे कि बिरादरी परक अस्मितावाद का, पॉलिटिक्स ऑफ कास्ट आईडेंटिटी का अभूतपूर्व उभार अगले कुछ वर्षों में इस देश की राजनीति में आएगा। आज 20 वर्ष बाद ये कथन भविष्यवाणी की तरह लगता है। मुझे नहीं पता कि ये कथन किसका था। लेकिन 28 दिसम्बर 1986 के दिन ये कथन मैंने अपनी डायरी में नोट किया था। 10 मई, 1987 को मैंने अपनी डायरी में कुछ लिखा था वो मैं आपके सामने हू-ब-हू पढ़ना चाहता हूँ, "हम किस जगह ले आए गए हैं? कल रात मालवीय नगर से लौट रहा था कि पटेल चौक पर सफेद मारुति गाड़ी में बैठे तीन सरदारों ने मुझे आवाज दी। मेरी पहली, हालांकि सौभाग्य से संक्षिप्त, प्रतिक्रिया डर की ही थी। कोई भी अपरिचित इन दिनों डर का कारण

बन जाता है। वे नेताजी नगर का रास्ता पूछना चाहते थे। उन्हें रास्ता बताने के बाद मैंने सिगरेट पी; घबराहट दूर करने के लिए।” और सुमन और सुधा से सुना कि ‘अन इजी’ उन्होंने भी महसूस किया।” ये 10 मई, 1987 को मैंने अपनी डायरी में लिखा था। उसके बाद 2 जून, 1987 को पुरानी दिल्ली के लालकुआँ इलाके के कटरा गुलाम मुहम्मद में घूमने के बाद जहाँ दंगे हुए थे, और जहाँ के मुसलमान बाशिन्दे स्थायी आतंक की छाया में रह रहे थे—मैंने अपनी डायरी में जो कुछ लिखा था उसका केवल एक वाक्य आपके सामने पढ़ना चाहता हूँ, “ये मुसलमान झूठ नहीं बोल रहे और अगर झूठ बोल रहे हों तो इन्हें अभिनय का ऑस्कर मिलना चाहिए।” 17 जून, 1987 को मैंने उसी डायरी में लिखा कि “13 जून की रात दक्षिण दिल्ली में, सफ़दरजंग एंक्लेव में आतंकवादियों ने 14 लोगों को कत्ल कर दिया। अब लगता है कि हमें जीवन भर इसी आतंक के साए में जीना है लड़ना है और प्यार करना है।”

मित्रो! 1989 में मैं दिलीप और हमारे एक मित्र जुगनु रामास्वामी पंजाब गए थे। सड़क के रास्ते, कार में। पंजाब में दो अनुभव ऐसे हुए जिन्हें मैं जीवन भर नहीं भूल सकता। और दोनों ही एक अर्थ में आध्यात्मिक अनुभव थे। एक अनुभव था बटाला कस्बे के चौक पर। पहली बार मुझे मालूम पड़ा कि रीढ़ की हड्डी में ठण्डक दौड़ जाने के मुहावरे का वास्तविक अर्थ क्या होता है। हम लोगों के सामने जा रही एक कार एकाएक रुकी, उसमें से तीन-चार हट्टे-कट्टे नौजवान हाथ में बन्दूकें लिए हुए उतरे और मुझे लगा कि बस हम अभी शहीद होते हैं। दूसरे का शहीद होना बहुत रोमांचक होता है। खुद के शहीद होने की आशंका रीढ़ की हड्डी में ठंडक दौड़ा देती है। यह अनुभव मुझे उस समय पहली बार हुआ।

दूसरा और इतना ही मार्मिक अनुभव दमदमी टकसाल में हुआ। हम लोग जानते हैं कि दमदमी टकसाल खालिस्तानी आंदोलन का नैतिक और बौद्धिक केन्द्र था। हम लोग वहाँ गए। हमारी उस पंजाब यात्रा का उद्देश्य यही था, गांधीजी से बहुत ही तुच्छ, अपने जीवन में, विचार में, बहुत छोटी सी प्रेरणा लेते हुए कि समझने की कोशिश करें कि लोग क्यों मरने और मारने पर उतारू हो जाते हैं। इसलिए हम तरह-तरह के लोगों से मिले पंजाब में, कम्युनिस्टों से, काँग्रेसियों से, भाजपाइयों से और स्वयं उनसे जो स्वतंत्र खालिस्तान के आंदोलन को चला रहे

थे। दमदमी टकसाल ऐसे लोगों का केन्द्र था। वहाँ जब हम गए तो उन्होंने हमें विस्तार से खालिस्तानी आंदोलन का तर्क समझाया। लस्सी पिलाई और खालिस्तानी आंदोलन के तर्क को समझाने के लिए लंबे-लंबे भाषण पिलाए। हम लोग काफी डरे हुए थे, काफी घबराहट थी। लेकिन दिलीप अपनी आदत के मुताबिक बहस पर उतारू थे और बहस चल रही थी। उस बहस के बीच एकाएक, उस बैठक में जो सबसे ज्यादा मुखर, जो सबसे ज्यादा व्यवस्थित रूप से अपनी बातों को कह रहे थे और बहुत सलीके से हमें ये समझाने की कोशिश कर रहे थे कि खालिस्तानी आंदोलन की सफलता के लिए हिंसा और आतंकवाद क्यों अपरिहार्य हैं; वे एकाएक बिना किसी वजह के, बिना किसी पूर्वापर क्रम के बोले, “वैसे जी एक बात है। अगर गांधीजी होते तो पंगा सुलट जाता।” हमें ये बात समझ में नहीं आई। पूछा कि आपके कहने का मतलब क्या है? कैसे सुलट जाता पंगा, गांधीजी के होने से? बोले देखो जी ऐसा है कि अगर वे होते तो सारे आतंकवाद और सारी गोलीबारी के बावजूद आते और अमृतसर में भूख हड़ताल पर बैठ जाते।

मेरे लिए ये एक आध्यात्मिक अनुभव था। मैं ऐसा कुछ नहीं कह रहा हूँ कि ये कहने वाला व्यक्ति हिंसा का विरोधी हो गया। मैं ये भी नहीं कर रहा हूँ कि ऐसा कहने वाला व्यक्ति गांधी-मार्ग का पथिक या गांधीवादी हो गया। लेकिन गांधी की राजनीति, गांधी का सामाजिक जीवन, गांधीजी का राजनैतिक जीवन उनके घोर विरोधी के मन में भी संवाद के प्रति आस्था उत्पन्न करता था और करता है। मित्रो! ध्यान देने की बात ये है जिस भय की चर्चा मैंने अपनी डायरी के अंशों के हवाले से की वो भय सबसे पहले संवाद की संभावना को ही समाप्त करता है। और उस भय का यह काम केवल एक अनौपचारिक या अनायास काम नहीं है ऐसा भय, संवादहीनता को संभव करने वाला भय— हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए — जान-बूझकर और प्रयत्न पूर्वक उत्पन्न किया जाता है। ये केवल संयोग नहीं है। पिछले 20 बरस में हम जो और अधिक डरे हुए समय में रह रहे हैं; एक ऐसे समय में कि पिछले दिनों लिखी गई एक प्रसिद्ध पुस्तक को याद करें, मार्क युरगेंसमेयेर की पुस्तक, ऐसे समय में जब कि परमात्मा तक के मानस में आतंक का राज है— ‘टेरर इन दि माइण्ड ऑफ गॉड।’ एक ऐसा समय जिसमें परमात्मा तक आतंकित है और ऐसे समय में मित्रो, इस बात को समझने की और

इस बात पर विचार करने की जरूरत है कि हिंसा और अहिंसा; मजबूरी और मजबूती के अन्तः संबंध क्या हैं ?

दमदमी टकसाल का जो संस्मरण मैंने सुनाया, उससे ऐसा लग सकता है कि गांधी की महत्ता केवल उनके आत्मबलिदान में है। ऐसा नहीं है। गांधी की महत्ता उनके आत्मबलिदान में, उनके साहस में निश्चित रूप से है लेकिन वो महत्ता उससे कहीं आगे जाती है। गांधी की महत्ता है उनके विचार में, उनकी अन्तर्दृष्टियों में और उनके विवेक में। हमें इस बात को समझना चाहिए। आज के व्याख्यान का जो विषय मैंने चुना 'मजबूती का नाम महात्मा गांधी' उस पर थोड़ा-सा हम ध्यान दें। मजबूत शब्द जबत से बनता है। धीरज, सहन करना, धैर्य के साथ खड़े रहना। मजबूत अनिवार्यतः आक्रमक व्यक्ति को नहीं कहते हैं। मजबूत उस व्यक्ति को कहते हैं जिस व्यक्ति में धीरज हो जिसमें विवेक हो। इस अर्थ में गांधीजी की मजबूती प्रेरणाप्रद है और शिक्षाप्रद है।

मित्रो हमारा समय क्रूर हिंसा के साधारणीकरण और विकेन्द्रीकरण का समय है। और चीजों का विकेन्द्रीकरण हुआ हो या न हुआ हो, सत्ता का, धन का, उद्योग का; लेकिन अपने आसपास के समाज को आप देखें- क्रूरता और हिंसा का अभूतपूर्व विकेन्द्रीकरण हुआ है। अब क्रूरता और हिंसा पर केवल राज्यसत्ता का एकाधिकार नहीं है आज के क्रांतिकारी भी केवल सफाया नहीं करते विधिवत और व्यवस्थित रूप से विस्तृत रूप से यातनाएँ भी देते हैं। वे केवल वर्ग शत्रुओं का सफाया नहीं करते, वे स्कूली बच्चों से भरी हुई बस को भी बमों से उड़ा देते हैं। वो मुखबिरों के हाथ-पाँव काटकर उन्हें जीवन भर तड़पने के लिए छोड़ देते हैं। हिंसा और क्रूरता का ये विकेन्द्रीकरण और हिंसा का ऐसा अभूतपूर्व साधारणीकरण—मार्टिन लूथर किंग की उस प्रसिद्ध चेतावनी की याद दिलाता है। यह एक करुण विडम्बना है कि जिस भाषण में मार्टिन लूथर किंग ने ये बात कही थी, वह उनका अन्तिम भाषण था। मार्टिन लूथर किंग ने कहा था जिस मोड़ पर हम पहुँच चुके हैं उस मोड़ पर दुनिया के लिए चुनाव अब नॉन-वायलेन्स और वायलेन्स के बीच में नहीं है। अब चुनाव नॉन-वायलेन्स और नॉन-एग्जिस्टेन्स के बीच में है। आप हिंसा और अहिंसा में से एक को नहीं चुन सकते। आपको अहिंसा और सर्वनाश के बीच में से एक को चुनना है।

गांधीजी ये बात बार-बार कहा करते थे कि “सत्य और अहिंसा—मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा हूँ। सत्य और अहिंसा तो शाश्वत हैं। टुथ एण्ड नॉन वायलेन्स आर ऐज ओल्ड एज हिल्स।” मैं सत्य के बारे में अभी नहीं कहना चाहता मित्रो! कुछ भी। विषय और समय दोनों की सीमा है। लेकिन अहिंसा के प्रसंग में मैं ये दृढ़तापूर्वक कहना चाहता हूँ कि उनका यह कहना कि— अहिंसा का विचार शाश्वत है, मैं कुछ नया नहीं कह रहा— ये गांधीजी की विनम्रता है और इसे शब्दशः नहीं लिया जाना चाहिए। जिस अर्थ में गांधीजी अहिंसा की बात करते हैं वह मानवीय विचार के इतिहास में सर्वथा अभूतपूर्व और मौलिक है। गांधीजी की अहिंसा केवल परंपरा से चली आ रही धार्मिक अहिंसा का विस्तार भर नहीं है। इस बात को कुछ अच्छी तरह हमें समझना चाहिए। हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि संसार के सभी धर्मों में अहिंसा अन्ततः एक आदर्श है, एक आइडियल है। जिसे पाने का आपको प्रयत्न करना चाहिए, और जिसको न पाने की स्थिति के जस्टिफिकेशन हमेशा आपके पास तैयार रहते हैं। गांधीजी के लिए अहिंसा केवल आदर्श नहीं है। गांधीजी के लिए अहिंसा आपके दैनंदिन जीवन की— सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन की— बुनियादी कसौटी है। गांधीजी के लिए अहिंसा केवल आइडियल नहीं है। गांधीजी के लिए अहिंसा बुनियादी जीवन मूल्य है। और इस दृष्टि से गांधीजी की अहिंसा पारंपरिक धार्मिक अहिंसा से कहीं आगे की चीज है।

हमें ये भी समझना चाहिए कि संसार के सभी धर्मों में पवित्र और अपवित्र दो प्रकार की हिंसा पाई जाती है। ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ यह बात किसी न किसी रूप में, अपने किसी न किसी सांस्कृतिक अनुवाद में संसार की हर धर्म परंपरा में पाई जाती है। पिछले दिनों मैंने एक फ़िल्म देखी थी। बोरीस्लाव सरावियेव-बल्गारिया के फ़िल्मकार हैं, उनकी फ़िल्म थी—‘बोरिस : दि लास्ट-पेगन।’ आज के बल्गारिया का कोई राजा था, आठवीं-नवीं सदी में, जो क्रिश्चियन हो गया था और इसलिए वह था—लास्ट-पेगन। उसके बाद क्रिश्चियनिटी का राज हो गया—बल्गारिया में। ये बोरिस जब क्रिश्चियन हो जाता है, तो उसके बाद, जाहिर है कि सभी को चाहिए कि क्रिश्चियनिटी स्वीकार कर लें, कन्वर्ट कर लें। और एक दृश्य है फ़िल्म में हम देखते हैं कि बहुत सारे लोगों को यातना दी जा रही है, बहुत सारे लोग-पीड़ित हैं; बोरिस अपने सेनापति

से कहता है—‘तुम ने तो कहा था, सभी को छोड़ दिया गया है, सभी ईसा की शरण में आ गए हैं।’ सेनापति जवाब देता है, ‘हाँ मैंने कहा था कि सभी ईसा की शरण में आ गए हैं। मैंने मनुष्यों के बारे में कहा था। ये लोग तो असल में शैतान की औलाद हैं; दे आर पजेस्ट बाई डेविल!’ जो मनुष्य थे, आल द पीपुल हेव कनवर्टेड— जो डेविल द्वारा पजेस्ट हैं वो कनवर्ट क्या करेंगे— और इसलिए उनके साथ होने वाला अत्याचार जायज है! श्रीलंका के इतिहास में और लोक कथाओं में एक बहुत ही मार्मिक दृष्टान्त मिलता है। एक बौद्ध राजा अपने साम्राज्यवादी युद्ध के बाद के पछतावे में घिर गया कि ये मैंने क्या किया वो भी बौद्ध होते हुए। तो उसके बौद्ध धर्माचार्यों ने उसे समझाया कि असल में इस युद्ध में केवल दो ही मनुष्य मारे गए हैं क्योंकि वही दो थे जो कि संघ के शरण में आए थे। बाकी जो मारे गए हैं उनके मरने जीने की चिन्ता आपको नहीं करनी है। ऐसे उदाहरण संसार के हर धर्म से दिए जा सकते हैं संसार का हर धर्म पवित्र और अपवित्र हिंसा के बीच अंतर करता है। संसार का हर धर्म वध और हत्या के बीच अन्तर करता है। हत्या अस्वीकार्य है, वध न केवल स्वीकार्य है बल्कि कई स्थितियों में करणीय है। गोडसे के बयान का अर्थ समझना चाहिए। गोडसे जब भी हिन्दी या मराठी बोलता था, कभी वो हत्या शब्द का प्रयोग नहीं करता था। गोपाल गोडसे की पुस्तक का शीर्षक ही है ‘गांधी वध आणि मी’। वध नैतिक रूप से स्वीकृत; नैतिक रूप से मान्य प्राणहरण की चेष्टा है जो कि कई बार जरूरी हो जाती है। और इसलिए अहिंसा वहाँ तक ठीक है जहाँ तक कि वो हमारे विचारों, हमारी धारणाओं, हमारी आस्थाओं के अनुकूल हो। अहिंसा अपने आप में कसौटी नहीं है। बल्कि अहिंसा ऐसी प्रविधि है, ऐसी मान्यता है जिसे हमें आस्था की कसौटी पर कसना है।

तीन-चार बरस पहले समाजशास्त्री बैरिंग्टन मूर ने बहुत ही विचारोत्तेजक अध्ययन किया है, “मॉरल प्यूरिटी ऐंड पर्सिक््यूशन इन हिस्ट्री”— इतिहास में नैतिक शुद्धता और उत्पीड़न! उस अध्ययन को करते हुए बैरिंग्टन मूर खास करके एकेश्वरवादी धर्मों के प्रति बहुत सख्त निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वे लिखते हैं, तुलना करते हैं पूर्वी धर्मों के साथ एकेश्वरवादी धर्मों की, ओर उसमें जो बात वे कहते हैं, उसमें से कम से कम एक वाक्य ऐसा है जिस पर उन लोगों को खास करके ध्यान देना चाहिए, जो अपने आप के हिन्दू होने को बड़े आक्रामक गर्व का विषय

बनाते हैं। बैरिंग्टन मूर लिखते हैं अपनी पुस्तक के निष्कर्ष के रूप में—“इस लेखक को सर्वाधिक चकित कर देने वाली मुख्य खोज यही है कि नैतिक शुद्धता की सैद्धान्तिकी और उसका व्यवहार एकेश्वरवादी धर्मों यहूदी, ईसाइयत और इस्लाम तक सीमित है। पश्चिम के सम्पर्क में आने के पहले पूर्वी समाजों में नैतिक शुद्धता प्रेरित उत्पीड़न था जरूर लेकिन बहुत कम। लेकिन जैसा कि माओवाद के तीव्र विकास ने दिखाया है विश्वास और सामाजिक संगठन की पूर्वी व्यवस्था का पतन नैतिक शुद्धता के सर्वाधिक क्रूर रूपों की जमीन तैयार कर देता है। ऐसे नैतिक शुद्धता प्रेरित उत्पीड़न की संभावना सिद्धान्ततः जहाँ सबसे कम है उस हिन्दू धर्म में भी, जैसे क्रूरता में दूसरों को पीछे छोड़ देने की होड़ शुरू हो गई है। उस घिसी पिटी भविष्यवाणी—कि पूर्व और पश्चिम कभी नहीं मिलेंगे—को जैसे झुठलाते हुए पूर्व और पश्चिम बीसवीं सदी में मिल गए हैं इतिहास की सर्वाधिक क्रूर हिंसा और भयानक यंत्रणा को संभव करने के लिए।”

यह बैरिंग्टन मूर ने सन् 2000 में लिखा। ‘मॉरल प्यूरिटी ऐंड पर्सिक्यूशन’ में। बैरिंग्टन मूर स्वयं एकेश्वरवादी परंपरा के भीतर हैं इसलिए उस परंपरा के प्रति उनका आक्रोश समझ में आता है। एकेश्वरवादी परंपराओं के बाहर के लोगों को इस आक्रोश से अपने अच्छे चालचलन के प्रमाणपत्र नहीं खोजने चाहिए। बल्कि ऐसे ही विवेक और आक्रोश के साथ अपनी परंपरा पर उतना ही निर्मम दृष्टिपात करना चाहिए जितना बैरिंग्टन मूर ने किया है।

एक बात स्पष्ट है कि और मामलों में हो या न हो, लेकिन पवित्र हिंसा और अपवित्र हिंसा के बहुत शुद्ध विभाजन के मामले में संसार के सभी धर्मों में सचमुच सच्चा सर्वधर्म समभाव पाया जाता है। सभी धर्म पवित्र और अपवित्र हिंसा में भेद करते हैं। और केवल धर्म ही नहीं धर्मनिरपेक्ष विचार भी। पवित्र हिंसा पर केवल धर्मों की कोई बपौती, कोई एकाधिकार नहीं है। अलजिरिया में चल रहे स्वाधीनता संग्राम के दौरान थाँज फेनन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी ‘रेचेड ऑफ दि अर्थ’ उसकी सबसे महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक स्थापना थी—‘उत्पीड़ित की हिंसा उसकी खोई हुई मानवता को फिर से वापस आने का अनुष्ठान है। और इस अर्थ में वह अत्यन्त पवित्र और जरूरी है।’ फैनन एक मायने में बहुत मौलिक बात कह रहे थे। लेकिन एक मायने में वो समूची वामपंथी परंपरा को उसके स्वाभाविक नैतिक निष्कर्ष पर पहुँचा रहे थे। वर्ग

संबंधों के रूपांतरण के लिए, क्रांति के लिए हिंसा अपरिहार्य है। यह एक बुनियादी मान्यता है जिसको फैनन ने बहुत ही चार्ज्ड एटमॉस्फीयर में एक नए नैतिक चार्ज के साथ भर दिया।

मित्रो, फैनन हों या कार्ल मार्क्स हों या कोई और इनमें से कोई भी व्यक्तिगत रूप से कोई क्रूरकर्मा व्यक्ति नहीं था। ये लोग हिंसक या हत्यारे लोग नहीं थे। ये सब डीसेन्ट लोग थे। बहुत ह्यूमन लोग थे। और इसीलिए हिंसा की समस्या ज्यादा गहरे विचार की मांग करती है। इस बात को भी हम लोग याद करें कि जिसे हम चिन्ताजनक हिंसा मानते हैं, मानव के इतिहास में देखें तो उससे कहीं ज्यादा चिन्ताजनक हिंसा वह है जिसे हम बड़ी स्वाभाविक और पवित्र हिंसा मानते हैं। अगर समूचे मानव इतिहास में हुई हिंसा- हत्याओं, वधों, बलात्कारों, लूट-पाटों— का कोई विवरण तैयार किया जाय तो व्यक्तिगत उन्माद के कारण हुई हिंसा किसी न किसी श्रेष्ठ और पवित्र, उद्देश्य के लिए हुई हिंसा के पासंग भी नहीं है। सारे साल में किसी प्रांत में छः या सात सौ से ज्यादा कत्ल हो जाते हैं तो पुलिस और गृहमंत्री के पीछे जनमत पड़ जाता है। लेकिन एक नगर में तीन दिन में जब 2700 लोग मार डाले जाते हैं क्योंकि वो गलत धर्म से ताल्लुक रखते थे, या एक प्रांत में हजारों लोग मार डाले जाते हैं क्योंकि वो गलत धर्म से ताल्लुक रखते थे तो यह उस तरह से कानून और व्यवस्था और नैतिक चिन्ता का विषय नहीं है। लोकतांत्रिक देश के प्रधानमंत्री को सार्वजनिक रूप से यह बात कहने में इक्कीस वर्ष लगते हैं कि जो सन् 84 में हुआ, वह शर्मनाक है। शर्मनाक तो वो सन् 84 में भी था, लेकिन यह कहने का साहस जुटाने में इस समाज को, इस राज्यतंत्र को इक्कीस साल लगे।

इसलिए हिंसा गहरे विचार की माँग करने वाला विषय है। संगठित और सोद्देश्य हिंसा की असल में एक प्रतीकात्मक शक्ति होती है। हमारे एक मित्र बहुत ही रोचक चुटकुला सुनाते हैं; बड़ा मानीखेज चुटकुला है— एक मजिस्ट्रेट की अदालत में एक थानेदार साहब ने एक चोर को पेश किया। कहा हुआ मैंने इसको पकड़ा है। चोर था एकदम छरहरा, फुर्तीला और थानेदार साहब थे खूब मोटे, थुलथुल। मजिस्ट्रेट को यह देखकर हँसी आ गई। उन्होंने कहा कि इस चोर को आपने पकड़ा है! ये जो भागने लगे तो कहीं का कहीं पहुँचेगा और आपके लिए एक कदम भी उठाना मुश्किल है। आपने कैसे पकड़ लिया इसको? तो

थानेदार साहब ने कहा, हुजूर हुकूमत दौड़ कर नहीं चलती इकबाल से चलती है। मैंने एक बार कह दिया खबरदार! खड़ा रहना, हिलना नहीं। इसकी मजाल थी कि हिल जाता अपनी जगह से! संगठित और सोद्देश्य हिंसा असल में इकबाल का मामला है। हिंसा की सजेस्टिव पावर महत्वपूर्ण होती है। और गांधीजी की मजबूती की बात जब हम करते हैं तो बहुत सीधी सी बात हमारे सामने है, गांधीजी की और लाखों असफलताओं की चर्चा की जा सकती है। गांधीजी के बहुत सारे काम विवादास्पद रहे हों। एक इतने लंबे सार्वजनिक जीवन में विवाद होना स्वाभाविक है। लेकिन इस बात से तो संभवतः गांधीजी का घोर विरोधी, घोर आलोचक भी इन्कार नहीं करेगा कि गांधीजी ने इंपीरियल पावर की हिंसा की सजेस्टिव ताकत को, उसके इकबाल को खत्म कर दिया। तोड़ दिया उन्होंने हिंसा की उस ताकत को।

हिंसा—संगठित और सामूहिक हिंसा—इकबाल इसलिए बन पाती है, सजेस्टिव पावर वो इसलिए अख्तियार कर पाती है कि अन्ततः हिंसा मनुष्य की आत्म-निर्वासन की, उसके सेल्फ ऐलिनियेशन की सर्वाधिक सघन और सर्वाधिक आत्मसातीकृत अभिव्यक्ति है। अपने आप से अलग हुए बिना, अपनी मनुष्यता से दूर हुए बिना आप न हिंसा कर सकते हैं और न हिंसा को उचित ठहरा सकते हैं। इसीलिए आपको कहना पड़ता है कि क्या करें हम मजबूर हैं। हमें ग्यारह लड़के मार डालने पड़े गोली चला कर 30 सितम्बर के दिन क्योंकि हम मजबूर थे। हम नार्थ ईस्ट जैसे सेन्सेटिव प्रान्त में, सेन्सेटिव जगह में, मेघालय जैसे सेन्सेटिव प्रांत में स्टेट की सिक्यूरिटी के लिए कोई रिस्क नहीं लेना चाहते थे। हमें निर्दोष लोगों से भरी हुई बस को बम से उड़ा देना पड़ा क्यों कि हम मजबूर थे; हमारी जमीन पर किसी विदेशी साम्राज्य ने कब्जा कर रखा है और हम मजबूर हैं हमारी कोई सुनने वाला नहीं।

इस मजबूरी को सचमुच सहानुभूति से समझने की जरूरत है। ये मजबूरी इस बात की ओर संकेत करती है कि हिंसा सेल्फ ऐलिनियेशन की सर्वाधिक सघन अभिव्यक्ति है! हिंसा आत्म-निर्वासित मनुष्य की सबसे करुण अभिव्यक्ति है। इसलिए भी इस बात पर गहराई से विचार करने की जरूरत है कि हिंसा क्या है और क्यों है? जाहिर है कि सवाल यह भी उठता है कि अहिंसा क्या है? बहुत से लोग कुछ इस तरह बात करते हैं जैसे कि गांधीजी इतने भोले रहे हों कि इतनी

मोटी सी बात भी न जानते हों कि जीवै जीव अहारा! कुछ लोग ऐसे बात करते हैं कि अहिंसा कैसे संभव है? शाकाहारी लोग इस बात का दावा कर सकते हैं कि हम अहिंसक हैं लेकिन प्राण तो वनस्पति में भी होते हैं। तो भोजन करना हिंसा है। कहीं उठना और बैठना हिंसा है। सभी जगह हिंसा भरी हुई है आप कैसे अहिंसा की बात करते हैं। कुछ लोग अहिंसा को खुद एक तरह की आक्रामकता में तबदील कर देते हैं। पशु प्रेम और शाकाहारवाद इतनी भयानक चीज बन जाती है कि मेरे जैसे शाकाहारी को उससे उलझन होने लगती है। ऐसे ही लोगों में से कुछ लोग गांधीजी को दूसरों की नैतिक न्यूनता दिखाने के दर्पण में बदल देते हैं। बजाय इसके कि दूसरों को उनकी संभावनाएँ दिखाने वाली विधि के रूप में आप गांधीजी को बदलें, आप दूसरों को उसकी नैतिक न्यूनता दिखाने, उनको नैतिक आत्मविश्वासहीनता के रोग का मरीज़ बनाने के काम में गांधीजी को लाते हैं। अरे आप कैसे गांधीजी की बात कर सकते हैं आप तो सिगरेट पीते हैं! आप कैसे गांधी की बात कर सकते हैं आप तो मिल के कपड़े पहनते हैं! आप कैसे गांधीजी की बात करते हैं आप तो ऐसे करते हैं! वैसा करते हैं! आप कैसे गांधीजी की बात करते हैं आप तो वामपंथी हैं!

इस तरह की स्थितियों से मैं समझता हूँ कि गांधीजी स्वयं गहरे में वाकिफ थे। उन्होंने बारंबार दो बातों को स्पष्ट किया है। एक यह कि अहिंसा और कायरता पर्यायवाची नहीं हैं। कायरता की मूल प्रेरणा वस्तुतः वही है जो हिंसा की मूल प्रेरणा है। आक्रामकता किसी भी कीमत पर अपने आपको बचाए रखने की प्रेरणा से उत्पन्न होती है। और इसी प्रेरणा से कायरता उत्पन्न होती है। जब आप दूसरे को ध्वस्त करके अपने आप को नहीं बचा सकते तो भाग करके अपने आपको बचा लें! हिंसा इस अर्थ में कायरता की सहधर्मी है। हिंसा और कायरता परस्पर विरोधी नहीं हैं। हिंसा और कायरता परस्पर पूरक हैं। गांधीजी गहरे में इस बात को जानते थे। बिल्कुल ठीक जानते थे कि अहिंसा और कायरता पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि दोनों परस्पर कतई विरोधी नैतिक मनोदशाएँ हैं।

जीवन में निहित हिंसा के प्रसंग में और अपने अहिंसा के विचार को स्पष्ट करने के प्रसंग में गांधीजी ने बहुत स्पष्ट रूप से एक बात लिखी है। मैं उनकी आत्मकथा का वह अंश पढ़ना चाहता हूँ। हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक स्व. रामविलास शर्मा ने नोट किया है; गांधीजी और सब कुछ होने के साथ-साथ

अद्भुत गद्यकार भी हैं। दुर्भाग्य से मैं गुजराती इतनी नहीं जानता कि गुजराती मूल का आनन्द ले सकूँ। लेकिन अंग्रेजी और हिन्दी अनुवादों में जो गद्य गांधीजी का सामने आता है उससे अनुमान लगता है कि यह गद्य अपने मूल रूप में कितना स्पन्दित, कितना प्राणवान और कितना विचारवान रहा होगा। गांधीजी लिखते हैं—“अहिंसा व्यापक वस्तु है। हिंसा की होली की लपेट में आए हुए हम पामर प्राणी हैं। ‘जीवै जीव अधारा’ की बात गलत नहीं है। मनुष्य क्षण भर भी बाह्य हिंसा के बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते उठते-बैठते सब कर्मों से, इच्छा से हो या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा तो वो करता ही रहता है। उस हिंसा से निकलने का उसका महाप्रयास हो, उसकी भावना में अनुकम्पा हो...” और ध्यान दें मित्रो कि महादेव भाई द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद में अनुकम्पा शब्द की जगह जो शब्द आया है वह शब्द है कम्पैशन। आगे इस अनुवाद में करुणा शब्द आता है। महादेव देसाई के अनुवाद में दोनों ही जगह कम्पैशन शब्द आता है। यहाँ एक जगह अनुकम्पा है और दूसरी जगह करुणा है। ...“भावना में केवल अनुकम्पा हो, वो छोटे-से छोटे प्राणी का नाश न चाहे। और यथाशक्ति उसे बचाने की कोशिश करे तो वो अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरंतर संयम की वृद्धि होगी। उसमें निरंतर करुणा बढ़ती जाएगी। पर कोई देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।”

इस तरह के वाक्य पढ़ने के बाद मुझे कभी-कभी ताज्जुब होता है कि लोग कैसे गांधीजी को हवाई आदर्शवादी कहते हैं? मनुष्य के स्वभाव का इससे अधिक यथार्थपरक चित्र और क्या हो सकता है? और उसी के साथ-साथ, उसकी यथार्थ परकता और उसी स्वाभाविकता का एक अंश ये है कि मनुष्य जो है उससे आगे कुछ होना चाहता है। मनुष्य केवल प्रकृति नहीं है मनुष्य संस्कृति भी है। हिंसा एक प्राकृतिक तथ्य है लेकिन अहिंसा को एक सांस्कृतिक मूल्य होना चाहिए। आक्रामकता हम सब में है लेकिन हम सब में करुणा भी है। और करुणा विचित्र-विचित्र रूपों में प्रकट होती है। हम अपने आसपास फैली हिंसा देख पाते हैं करुणा नहीं देख पाते। आप सड़क पर अपनी गाड़ी में जा रहे हैं आपके बगल से एक मोटर साईकिल निकलती है। उस मोटर साईकिल पर एक महिला बैठी है। उसकी साड़ी मोटर साईकिल में कहीं फंस रही है। आप बताते हैं—कोशिश करके बताते हैं, देखिए आपकी साड़ी फंस रही है दुर्घटना हो

सकती है। आपको क्या लेना देना है उससे? वो आपकी पत्नी नहीं है, वो आपकी माँ नहीं है, वो आपकी भाभी नहीं है। वो आपकी कोई नहीं है फिर भी आपको चिन्ता है कि खामखा कोई दुःख न उठाए। ये सिर्फ एक अफवाह है कि केवल आक्रामकता ही मनुष्य की मूलवृत्ति है। करुणा और संवेदनशीलता भी मनुष्य की उतनी ही मूलभूत वृत्तियाँ हैं। गांधीजी की अहिंसा पारंपरिक धार्मिक अहिंसा से भिन्न इस अर्थ में है कि वह किसी धार्मिक आदर्श और किसी धार्मिक मूल्य की अनुगामिनी नहीं है बल्कि वह हर तरह के धर्माचरणों की कसौटी पर स्वयं है।

जो उद्धरण अभी मैंने दिया है, ऐसे अनेक उद्धरण गांधीजी के विपुल लेखन में मिल सकते हैं। गांधीजी का सारा जीवन इस बात की साक्षी देता है कि गांधीजी की अहिंसा वस्तुतः करुणा और संयम से परिभाषित है। करुणा बहुत ही लोकप्रिय शब्द है। इतना लोकप्रिय कि कुछ लोगों को करुणा शब्द से ही असुविधा होने लगी है। कोई करुणा का पात्र नहीं बनना चाहता। गांधीजी यहाँ करुणा के साथ संयम रखते हैं। बिना संयम के सच्ची करुणा संभव नहीं है। करुणा यानि दूसरे के दुःख के प्रति संवेदनशीलता। करुणा यानि दूसरे की भलाई चाहने की इच्छा। दूसरे के दुःख के प्रति संवेदनशीलता दूसरे के भलाई की इच्छा तब तक सम्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि आप अपनी इच्छाओं पर संयम करना न सीख लें। इसलिए आप ध्यान दें कि गांधीजी जब अहिंसा को परिभाषित करते हैं तो दो ही तत्वों को उसमें रेखांकित कर रहे हैं। पूरे उद्धरण में कहीं शाकाहार की महिमा नहीं है! अहिंसा-गांधीजी की अहिंसा—मेरे हिसाब से परिभाषित होती है संयम और करुणा से। संयम केवल दूसरे पर की जानेवाली कृपा नहीं है। संयम खुद के जीवन को जीने के लिए भी बुनियादी बोध है। फिर से भर्तृहरि को याद करें मित्रो! कालोनयातो वयमेवयाता। तृष्णा न जीर्णावयमेव जीर्णाः। काल कहीं नहीं आता-जाता, हमीं चले जाते हैं। तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती, तृष्णा को भोगते-भोगते, तृष्णा को तृप्त करते-करते हम स्वयं जीर्ण हो जाते हैं। मिठाई खाने की इच्छा नहीं जाती लेकिन डायबिटीज के कारण खा नहीं पाते। और तब जो स्थिति पैदा होती है उसे संस्कृत के कवि 'श्मशान वैराग्य' कहते हैं। क्योंकि डायबिटीज है इसलिए मिठाई का त्याग करो। इसलिए नहीं कि मिठाई का त्याग कर देना चाहिए संयम के कारण।

गांधीजी की महत्ता इस बात में है कि ये सारी चीजें जो अधिक से अधिक व्यक्तिगत आदर्श के रूप में समाज से दूर, पहुँचे हुए महात्माओं की साधना के रूप में प्रचलित थीं; इन सारी चीजों को गांधीजी ने एक व्यापक जन आंदोलन का बुनियादी दार्शनिक आधार बना दिया। गांधीजी की महत्ता इस बात में है। करुणा की बात गांधीजी के पहले बहुत लोगों ने की है। संयम की बात गांधीजी के पहले बहुत लोगों ने की है। अहिंसा की बात गांधीजी के पहले बहुत लोगों ने की है। लेकिन करोड़ों लोगों से एक साथ माँग करने वाला व्यक्ति पहला था यह मोहनदास करमचन्द गांधी जो करोड़ों लोगों से ये माँग करे कि आप केवल परमात्मा के साथ नहीं बल्कि अपने साथी मनुष्यों के साथ अपने साम्राज्यवादी शोषकों के साथ भी करुणा और संयम का संबंध रखें। गांधीजी की अहिंसा इस अर्थ में अभूतपूर्व है। और इसीलिए मैंने कहा कि यह उनकी केवल विनम्रता है। एक छोटे-मोटे विद्यार्थी के तौर पर, इतिहास और समाज और साहित्य के बारे में कुछ सोचने समझने वाले एक निहायत हकीर इन्सान के तौर पर मैं यह महसूस करता हूँ— कि गांधीजी का यह कहना कि सत्य और अहिंसा शाश्वत हैं बिल्कुल सही है लेकिन गांधीजी की अहिंसा परंपरा से चली आ रही अहिंसा का विस्तार नहीं है। वह उनकी मौलिक जीवन दृष्टि है। इस अर्थ में मौलिक जीवन दृष्टि है गांधीजी की अहिंसा कि वह बुनियादी तौर से टिकी हुई है करुणा और संयम पर। गांधीजी के सारे जीवन को अगर हम किताब की तरह पढ़ें, आजकल प्रचलित, फैशनेवल शब्दावली के मुहावरे में कहें— एक टेक्स्ट की तरह पढ़ें तो उसका सबटेक्स्ट यही है— करुणा और संयम।

गांधीजी के यंत्र विरोध की बहुत चर्चा होती है। उस विषय में जाने का यह समय नहीं है। लेकिन 'हिन्द स्वराज्य' की तरह-तरह की व्याख्याएँ की गई हैं। कुछ महत्वपूर्ण, कुछ चिन्ताजनक, कुछ प्रेरणाप्रद। महत्वपूर्ण किताब है, 'हिन्द स्वराज्य' और 'हिन्द स्वराज्य' के बारे में कहा जाता है, बहुत से लोगों को लगा था, स्वयं गोपालकृष्ण गोखले को लगा था कि बहुत ही जल्दबाजी में लिखी गई ये किताब है, साल डेढ़ साल में गांधीजी इसको रद्द कर देंगे। गांधीजी ने लेकिन किताब रद्द नहीं की। लेकिन उस किताब का जो मूल तर्क है, उस किताब में जो सभ्यता समीक्षा है, वह केवल पश्चिम की सभ्यता समीक्षा नहीं है। सभ्यता मात्र की 'सभ्यता' समीक्षा है। प्रलोभन हो सकता है जैसे... बैरिंग्टन मूर की किताब

पढ़ने के बाद मेरे मन में आया था ...अहा! मैं तो हिन्दू हूँ! मेरे यहाँ ऐसी हिंसा नहीं है! ऐसे प्रलोभन हिन्द स्वराज्य को पढ़ने वाले के मन में बार-बार आ सकते हैं। लेकिन गहराई से अगर उस पुस्तक को आप पढ़ें तो आप देखेंगे कि वो केवल पश्चिम की सभ्यता की समीक्षा नहीं है, वह सभ्यता की अवधारणा मात्र की समीक्षा है। इस प्रसंग में इस बात का बहुत महत्व है कि जब 1938 में 'आर्यन पाथ' नाम की एक पत्रिका ने 'हिन्द स्वराज्य' पर एक अंक केन्द्रित किया और उस चर्चा में हिस्सा लेते हुए महादेव देसाई ने एक निबंध लिखा जो हिन्द स्वराज्य के परवर्ती संस्करणों में एक 'दीबाचे' के तौर पर छपा। गांधीवादियों की जो हिन्दी हुआ करती थी, धीरे-धीरे हाशिए पर तो क्या, हाशिए के भी हाशिए पर पहुँच गई है। 'दीबाचा-प्रस्तावना! महादेव देसाई ने लिखा, हिन्द स्वराज्य की ये जो नई आवृत्ति प्रकाशित होती है उसके दीबाचे के तौर पर 'आर्यन पाथ मासिक' के हिन्द स्वराज्य अंक की जो समालोचना मैंने 'हरिजन' में लिखी थी उसका तरजुमा देना नामुनासिब नहीं होगा।' उस तरजुमे में महादेव देसाई ने 1924 में श्री रामचन्द्रन के साथ गांधीजी का जो वार्तालाप हुआ था उसको याद किया। उस वार्तालाप को विस्तार से उद्धृत किया। उस वार्तालाप में गांधीजी ने कहा कि सिंगर की सिलाई मशीन को मैं उचित यंत्र मानता हूँ। उसका मेरे यहाँ स्वागत है। क्यों स्वागत है? गांधीजी के शब्दों में— महादेव देसाई द्वारा याद किए गए विवरण के अनुसार—“उसकी खोज के पीछे अद्भुत इतिहास है—सिंगर ने अपनी पत्नी को सीने और बखिया लगाने का उकताने वाला काम करते देखा। पत्नी के प्रति प्रेम ने गैरजरूरी मेहनत से उसे बचाने के लिए सिंगर को ऐसी मशीन की प्रेरणा दी।” बाकी मशीनों के साथ यंत्र की पूरी सभ्यता के साथ गांधीजी कन्ट्रास्ट करते हैं सिंगर की मशीन को। आगे चल कर कहते हैं कि “यंत्र का उद्देश्य है मानव श्रम की बचत! उसका इस्तेमाल करने के पीछे धन का लोभ नहीं होना चाहिए, बल्कि प्रमाणिक रीति से दया का होना चाहिए।” मुझे लगता है मित्रो! मैं ये कहने का दुस्साहस नहीं करूँगा कि मैं गांधीजी की कोई प्रामाणिक व्याख्या कर रहा हूँ। ऐसा करने का कोई मेरा इरादा भी नहीं है। मैंने जैसा आपसे पहले ही कहा कि मेरे लिए ये व्याख्यान, गांधीजी के साथ मेरा कोई भी संवाद अपनी उलझनों और अपने नैतिक संकटों को हल करने की कोशिश है। अपने लिए रास्ता तलाशने की ये कोशिश है। इसमें गांधीजी मुझे एक सतत प्रकाश की तरह दिखते हैं। और इस

लिहाज से मुझे ये बात बहुत मार्के की लगती है कि यंत्र की स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार उसका छोटा या बड़ा होना नहीं है। उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता नहीं है। उसके निर्माण और उसके नियंत्रण और उसके परिचालन के पीछे प्रेरक तत्व क्या है? धन का लोभ या प्रेम?

मुझे वामपंथी कहा गया था। मैं वामपंथी हूँ। और कम से कम इस एक धरातल पर मुझे लगता है कि कैपिटलिज्म के मूल परिचालक तत्व प्रॉफिट मोटिव की ऐसी बुनियादी नैतिक समीक्षा करने वाला व्यक्ति किसी भी वामपंथी के लिए अप्रासंगिक कैसे हो सकता है? किसी वामपंथी द्वारा गांधीजी के साथ-सम्वाद करने का प्रयास आपको अचरज का विषय क्यों लगना चाहिए? खैर, यह समय अचरजों का समय है। एक अचरज यह भी सही! लेकिन इस बात पर हम ध्यान दें कि मूल सवाल मोटिव का है। उसी वार्तालाप में गांधीजी आगे कहते हैं, रामचंद्रन ने उनसे पूछा कि सिंगर की मशीन बनाने के लिए तो बड़े-बड़े कारखानों की जरूरत पड़ेगी, उनका क्या होगा? गांधीजी ने कहा 'इतना समाजवादी तो मैं हूँ ही...कि बेधड़क कह सकूँ ऐसे बड़े कारखाने समाज के नियंत्रण में रहने चाहिए।' और ये 1924 की बात है। कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के ठीक एक साल पहले की। प्रश्न सभ्यता के रूपों भर का नहीं है। सभ्यता की मूल प्रेरक शक्ति का है। गांधीजी जब ये कहते हैं कि यंत्र का प्रेरक तत्व प्रेम होना चाहिए लोभ नहीं तो वे कितनी गहरी सभ्यता समीक्षा कर रहे हैं—ये जानने के लिए याद रखना चाहिए कि प्लेटो ने सभ्यता की परिभाषा की है—सम्पत्ति की रक्षा के लिए किया जाने वाला संगठन। इस अर्थ में गांधीजी का हिन्द स्वराज केवल पश्चिमी सभ्यता की समीक्षा नहीं है। वह सभ्यता के गठन मात्र की समीक्षा है। मित्रो! यही कारण था कि गांधीजी अपने जीवन में अनवरत नैतिक सापेक्षतावाद से लड़ते रहे। गांधीजी को कभी ये नहीं लगा कि राज्य की हिंसा निन्दनीय है और क्रांतिकारियों की हिंसा स्वीकार्य है। और अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने अपने जीवन में काफी लानत मलामत सही। उनका काफी विरोध भी हुआ। नई पीढ़ी के सामने गांधीजी की जो तस्वीर है वह एक बड़े सपाट, लगभग एक दिव्य पुरुष की तस्वीर है। या तो प्रयत्नपूर्वक या संयोग से भुला दिया गया है कि डर ने और आक्रमण ने गांधीजी का पीछा कभी नहीं छोड़ा। बचपन के भूत और साँप के बालसुलभ डर से लेकर दक्षिण अफ्रीका में नस्लवादी गोरों की

पिटार्ड से लेकर, 1934 और 35 में पुणे के उन लोगों द्वारा गाड़ी पर बम फेंके जाने तक जो उनके अछूतोद्धार आंदोलन के क्रुद्ध थे। क्रांतिकारियों के जत्थों द्वारा काले झण्डे दिखाए जाने से जो भगतसिंह की फाँसी की सजा खत्म करने को गांधी — इरविन समझौते की शर्त न बनाने से कुद्ध थे से लेकर अन्त में नोआखली और और उसके बाद 30 जनवरी।

गांधीजी की नैतिक प्रमाणिकता का सबसे बड़ा प्रमाण ये है कि उन्होंने कभी नैतिक सापेक्षतावाद की शरण नहीं ली। उन्होंने इस बात को बारंबार कहा कि संसार का कोई भी धर्म हो, कोई भी धार्मिक वचन हो कोई भी धर्म ग्रंथ हो अगर वह बुनियादी मानवीय सार्वभौम मूल्यों के अनुकूल नहीं है तो उसे मैं स्वीकार नहीं करूँगा। यह कहने के लिए साहस चाहिए और खास करके ऐसे व्यक्ति द्वारा कहने के लिए जो भिन्न प्रसंगों में बेधड़क अपने आपको सनातनी हिन्दू कहता था। और अन्य भिन्न प्रसंगों में अपने आपको एक साथ ही हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई सब कुछ कहता था। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए ये कहना बहुत सहज है क्योंकि मेरी कोई धार्मिक आस्था है ही नहीं। धर्म के साथ हममें से अधिकांश का संबंध अवसरवाद का संबंध है। बड़े-बड़े क्रांतिकारियों को मैंने बाबा लोगों के गंडे बाँधते देखा है। ऐसे लोग धर्म के बारे में कुछ भी कह सकते हैं और कहना चाहिए। मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं है! लेकिन जो व्यक्ति बहुत गहरे में अपने आपको धार्मिक के रूप में पहचानता है, उसका ये कहना कि संसार के किसी धर्म वचन का मेरे लिए कोई मूल्य नहीं है अगर वो सत्य और अहिंसा में प्रकट होने वाले सार्वभौम मानवीय मूल्यों के प्रतिकूल पड़ता हो ये कुछ और ही बात है। और इस सार्वभौम मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति का एक बहुत ही सुन्दर रूप गांधीजी ईशावास्योपनिषद् के पहले मंत्र को मानते थे — ‘ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्।’

गांधीजी के जीवन में कई ऐसी घटनाएँ हैं कई ऐसे पल हैं जिन पर लोगों को ताज्जुब होता है। ‘दी राईज एंड दि फॉल ऑफ थर्ड-रीख नामक विश्व प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक विलियम श्रायर चौथे दशक के शुरुआती वर्षों में ‘शिकागो ट्रिव्यून’ के संवाददाता के तौर पर चार पाँच वर्ष गांधीजी के साथ रहे थे। उन्होंने गांधीजी की एक-एक गतिविधि को कवर किया। वे गांधीजी के साथ गोलमेज कांफ्रेंस के लिए लंदन गए थे। उन्होंने लिखा है कि जब गांधीजी लंकाशायर जाना

चाहते थे तो वहाँ की पुलिस बहुत चिन्तित थी, गांधीजी की सुरक्षा के लिए। पुलिस को लग रहा था कि मजदूर गांधीजी पर हमला कर देंगे क्योंकि उनके कारण लंकाशायर की मिलें बंद होने की नौबत आ गई थी। स्वदेशी आंदोलन के कारण, बायकाट के कारण। बड़ी मश्किल से पुलिस ने इजाजत दी गांधीजी को कि ठीक है! आप चले जाइए। अब आप तो ज़िद्दी आदमी हैं, आप मानेंगे नहीं! लेकिन काफी चिन्तित थी इंग्लैंड की पुलिस गांधीजी की सुरक्षा को लेकर! और मित्रो! आपमें से किसी ने यदि वो चित्र देखें हो—लंकाशायर के मजदूरों के बीच गांधीजी! उन चित्रों के बारे में शब्दों में कहना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। कुँवर नारायणजी और अशोकजी जैसे कवि कभी कुछ कहें तो कहें! उन चित्रों का जो मर्म है... जिस व्यक्ति को उन्हें अपने रोजगार छीनने वाला, पेट पर लात मारने वाला मानना चाहिए, उस व्यक्ति का स्वागत वे मजदूर-स्त्री और पुरुष ऐसे कर रहे हैं जैसे उन्हें बरसों का बिछड़ा कोई भाई या बापू मिला हो! क्यों? क्योंकि गांधीजी ने अपने व्यवहार से, केवल शब्दों से नहीं व्यवहार से बार-बार यह रेखांकित किया कि भारत के जनसाधारण की लड़ाई ब्रिटेन के जनसाधारण के खिलाफ नहीं है। भारतीय जनसाधारण की लड़ाई ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के खिलाफ है। उपनिवेशवाद के खिलाफ है। इस लड़ाई में ब्रिटेन के साधारण मजदूर को मेरे साथ होना चाहिए। मेरे खिलाफ नहीं! और इसलिए हिंसा का कोई भी कर्म चाहे वह किसी भी तरह के नैतिक जस्टिफिकेशन के साथ क्यों न किया गया हो, मेरे लिए इसलिए स्वीकार्य नहीं हो जाएगा कि वह भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई के पक्ष से की गई हिंसा है। हिंसा अगर गलत है तो गलत है, और हिंसा गलत इसीलिए है क्योंकि हिंसा जिस सजेस्टिव पावर की रचना करती है, जिस प्रतीकात्मक शक्ति की रचना करती है, वह प्रतीकात्मक शक्ति बहुत खोखली है। उसमें कोई नैतिक बल नहीं है। ब्रिटेन की पुलिस को चकित होना ही था। विलियम श्रायर ने बहुत मजेदार शब्दों में ब्रिटिश पुलिस के उस अचरज का वर्णन किया है कि क्या करें हम इस आदमी का, हमें चिन्ता थी कि इसे बचाना पड़ेगा। बचाना तो पड़ा लेकिन हमले से नहीं प्रेम से! हमें चिन्ता ये हो रही थी कि इतने लोग गांधीजी का आलिंगन कर रहे हैं कहीं गांधीजी के प्राण न निकल जाएँ। इसलिए थोड़ी सख्ती से मजदूरों को दबाकर गांधीजी को निकालना पड़ा।

गांधीजी के बारे में ये बातें करना ऐसा लगता है कि हम अजूबा व्यक्ति के

बारे में बातें कर रहे हैं। ये स्वाभाविक है इसलिए कई मित्रों को लगता है कि गांधीजी की अब क्या प्रसंगिकता रह गई है। गांधीजी जिस माहौल में थे, जिस तरह के वातावरण में थे जिस दुनिया में थे वो दुनिया पीछे छूट गई। अब क्या होगा ? मैं केवल एक बात कहना चाहता हूँ इस प्रसंग में— दीपक की प्रासंगिकता दिन की रोशनी में नहीं होती। अँधेरा जितना घना होता है दीपक उतना ही प्रासंगिक होता है। सचमुच का जो अहिंसक समाज होगा उसमें गांधी शब्द के गहरे अर्थों में अप्रासंगिक होंगे। क्योंकि 'कम्बन रामायण' के रामराज्य वर्णन की चाल पर कहें तो उस समाज में सभी अहिंसक होंगे। अलग से किसी को अहिंसक होने की आवश्यकता नहीं होगी। कम्बन के रामराज्य में कोई सच नहीं बोलता क्योंकि कोई झूठ नहीं बोलता। इसलिए झूठ की तुलना में सच- ये फैसला करने की जरूरत नहीं। कोई अपरिग्रह नहीं करता कम्बन के रामराज्य में क्योंकि कोई परिग्रह नहीं करता। कोई सदाचारी नहीं है क्योंकि कोई व्यभिचारी नहीं है।

गांधीजी का जीवन सफल हो या असफल उस पर फैसला देने का अधिकार कम से कम मुझे नहीं है। बड़े इतिहासकार, बड़े विचारक ये फैसला देंगे। लेकिन गांधीजी का जीवन एक बहुत ही सार्थक प्रयत्न है हर तरह की मॉरल डायकाटमी के परे जाने का और इस अर्थ में वह हम सबके लिए कम से कम मेरे लिए एक सतत प्रेरणा के भी स्रोत हैं और सतत चुनौती के भी। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो ये मानें कि मैं गांधी नहीं हो सकता। निश्चय ही मैं उस अर्थ में गांधी नहीं हो सकता लेकिन कम से कम इतना तो जान ही सकता हूँ कि किसी भी मनुष्य की तरह मेरे भीतर सतत उपस्थितियाँ हैं— एक गांधी की एक गोडसे की। और सतत चुनौती है सही चुनाव की। सही जगह खड़े होने की। गांधीजी के शब्दों में सत्य का आग्रह करने की। गांधीजी ने सत्याग्रह को परिभाषित किया था— सत्याग्रह का मतलब ही है कि अपने घोर विपक्षी के सत्य में भी, उसकी संभावना में भी आस्था रखना। इस बात में आस्था कि किन्हीं कारणों से कितना भी पतित क्यों न हो गया हो, अन्ततः घोर पतित, घोर पापी, घोर हिंसक मनुष्य भी मनुष्य है और जब तक उसकी मनुष्यता है तब तक संभावना है।

गांधीजी के लिए सत्य केवल सत्य ही नहीं था। गांधीजी के लिए सत्य एक नैतिक संभावना था और इसीलिए गांधीजी के लिए सत्य और अहिंसा एक दूसरे के बिना असंभव है। गांधीजी इस बात को भलीभाँति जानते थे, महसूस करते थे

कहीं न कहीं कि उनके प्रयोगों का क्या महत्व है। बहुत विनम्र व्यक्ति थे साथ ही जैसा कुछ निकट से जाने वालों लोगों ने लिखा है और बताया है कि गहरे अर्थ में अहंकार की सीमा तक पहुँचा हुआ आत्मविश्वास भी था उनमें! ... और इसलिए वे जानते थे कि उनके प्रयोगों का बल क्या है महत्व क्या है। वे जानते थे कि उनकी पूजा करने के लिए लोग उतावले हो जाएँगे। और उन्होंने अपने रहते ऐसा प्रयत्न किया कि ऐसी पूजा की कोई संभावना न बने। सन् 1968 में हिन्दी के यशस्वी विचारक और कथाकार जैनेन्द्र कुमार ने अपने निबंधों और संस्मरणों का एक संकलन प्रकाशित किया था—‘अकाल पुरुष गांधी’। जैनेन्द्र कुमार ने उस एक अद्भुत घटना का जिक्र किया है। गांधीजी के दाँत का ऑपरेशन हुआ। दाँत खराब हो गया था। निकाला गया। जब डॉक्टर ने दाँत निकाला तो जैनेन्द्र ने कहा कि लाइए मैं साफ कर देता हूँ। लिया दाँत और एक लिफाफे में रखा और लिफाफा जेब में रख लिया। रखे रहे और लोगों से थोड़ा-थोड़ा इतराकर बताते भी रहे कि गांधीजी का दाँत मेरे पास है। गांधीजी तक ये खबर पहुँच गई कि मेरा दाँत जैनेन्द्र के पास है। उन्होंने जैनेन्द्र को बुलाया। और जैनेन्द्र के लाख टालने के बावजूद दाँत लेकर ही माने। दाँत लिया, अपने एक साथी को कहा कि जाओ इसे नदी में फेंक देना। और जैनेन्द्र लिखते हैं कि न केवल उस दिन बल्कि अगले 15-20 दिनों तक उस साथी से गांधीजी गाहे-बिगाहे पूछते रहे तूने रखा तो नहीं जैनेन्द्र की तरह! फेंक दिया था न। क्योंकि गांधीजी जानते थे जैसा कि जैनेन्द्र ने लिखा है “गांधी ऐतिहासिक थे दाँत भी ऐतिहासिक होता।” गांधीजी जानते थे कि अगर ये दाँत बच गया तो इस पर निश्चित रूप में स्तूप खड़ा हो जाएगा। आखिरकार साँची के स्तूप में महात्मा बुद्ध का दाँत ही तो है! गांधीजी कहीं न कहीं इन बातों के प्रति सचेत थे, अवगत थे। और इसीलिए उस निपट मानव को, जैनेन्द्र के शब्दों में उस “निपट मानव” को अपने भीतर खोजना, उस मजबूती को जिसका एक नाम गांधी है वो मजबूती जो हमें इस बात की लगातार याद दिलाती है। हम उस याद को सुन पाएँ या न सुन पाएँ गांधीवादी मुहावरे में कहें तो परमात्मा की आवाज जो मेरे आपके सबके मन में कहीं न कहीं कौंधती है—बिना संयम और करुणा के मैं मनुष्य नहीं हो सकता— वह आवाज जो हम सबके मन में कौंधती है और हमें प्रेरित करती है विवश करती है कि हम सही वक्त पर सही फैसला करें। हम कर नहीं पाते वह एक अलग मसला है लेकिन

वह संभावना सदा बनी रहती है—वह संभावना जिसका एक नाम मजबूती है और दूसरा नाम महात्मा गांधी।

मित्रो! रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक अद्भुत कविता मैं याद करना चाहता हूँ। वह कविता इस क्लीशे को एक बार फिर से सिद्ध करती है कि कवि प्राफेटिक विजन से सम्पन्न होता है। अपने निधन के साल डेढ़ साल पहले संभवतः 1939-40 में रवीन्द्र ने यह कविता लिखी थी। कविता मैंने बचपन में पढ़ी थी। धन्यकुमार जैन के अनुवाद आते थे उन दिनों दो-दो, ढाई-ढाई रुपये में। उन्हीं दिनों किसी अनुवाद संकलन में मैंने कविता पढ़ी थी। कविता का शीर्षक है “जय मृत्युंजय की जय” उस कविता में एक व्यक्ति है जो अपने लोगों को सत्य के शिखर की ओर ले जा रहा है। वह ले भी जाता है, पहुँच जाता है। लेकिन कुछ होता है—कविता बहुत लंबी, संवादपरक कविता है—उसके लोगों में से ही कोई एक उसकी हत्या कर देता है और कविता कहती है, ‘मृत्युंजय इसमें दोष किसी का नहीं है। ये तुम्हारा अपना वरण है।’ लेकिन दूसरों के लिए कविता है कहती, “जय, उस मृत्युंजय की जय।” ऐसा लगता है कि जैसे 1948 में जो कुछ होने वाला है उसको रवीन्द्र 8 या 9 साल पहले देख रहे हैं। एक सिनेरियो की तरह लिख रहे हैं। वो कविता आपको अगर तारीख की सूचना के बिना पढ़ाई जाय तो ये मानना असंभव होगा कि ये कविता 30 जनवरी 1948 के बाद नहीं लिखी गई है।

गांधीजी हमारे संवेदनशील चित्तों को एक गहरे अर्थ में एक नैतिक चुनौती के रूप में सालते रहे। हिन्दी के बहुत ही आदरणीय, बहुत ही महत्वपूर्ण कवि मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता है ‘अंधेरे में’ और उसमें जिस तरह गांधीजी आते हैं, जिस तरह लोकमान्य तिलक आते हैं और टॉलस्टाय आते हैं— उस पूरी प्रदीर्घ कविता में यही तीन ऐतिहासिक व्यक्तित्व कविता के पात्रों की तरह हैं। उसमें गांधीजी जिस तरह आते हैं जिस तरह प्रकट होते हैं वह अंश पढ़ने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता “ध्यान से देखता हूँ वह कोई परिचित जिसे खूब देखा था, निरखा था/कई बार/पर पाया नहीं था/वह मुख/अरे वह मुख/गांधीजी!” उस मुख को हम सब देखते हैं, अपने अँधरे से टकराते हुए हम उसे देखते हैं निरखते हैं, मुक्तिबोध के काव्य नायक की तरह! अपने भीतर! अपने अँधरे से टकराते हुए। लेकिन पा नहीं पाते! खोज नहीं पाते। मित्रो गांधीजी केवल

एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं थे। गांधीजी एक नैतिक व्यक्तित्व थे। और इसीलिए कई बार मुझे जैनेन्द्रजी की ये बात बड़ी मार्मिक लगती है कि गांधीजी एक बार इतिहास के गर्त में पहुँच जाएँगे, जब लोग एक बार उनको भूल जाएँगे जब लोग एक बार उनको व्यर्थ मानने लगेंगे, उस गर्त में से गांधीजी का जो पुनराविष्कार होगा—जैनेन्द्र के अपने शब्दों में, “वह व्यक्तित्व मानो मिथक के रूप में होगा। और वह व्यक्ति नहीं बल्कि एक जीवन दर्शन का चित्र और प्रतीक होगा। मैं चाहता हूँ, मैं मानना चाहता हूँ—कि गांधी का यह निर्वैयक्तिक रूप मानव इतिहास के एक नए युग का आरंभ होगा।” इतना मैं और जोड़ना चाहता हूँ जैनेन्द्र के इस कथन में—गांधी का कोई भी रूप चाहे वो मिथकीय हो या चाहे वह निर्वैयक्तिक हो, चाहे ऐतिहासिक हो—हमेशा इसलिए मार्मिक रहेगा, हमेशा इसलिए प्रेरणाप्रद रहेगा कि उसके पीछे एक निपट मानव का गहरा आत्म-संघर्ष है ओर ऐसा गहरा आत्म-संघर्ष जिसको उसने सबके सामने रखने में कभी संकोच नहीं किया। ब्रह्मचर्य के उनके प्रयोग उनके निकटतम शिष्यों तक को एंबेरेस करते थे। जून 1947 में दिल्ली में उनकी उपस्थिति उनके निकटतम शिष्यों के लिए, मित्रों के लिए असुविधाजनक थी और किसी ने उन्हीं दिनों उनसे कहा था आप तो महात्मा हैं आपको हिमालय जाना चाहिए। आप क्यों राजनीति में पड़ते हैं? सरकार को सरकार की तरह चलने दीजिए। एक जून 1947 को इस सुझाव का जवाब देते हुए गांधीजी ने प्रार्थना सभा में कहा था कि आप बिलकुल ठीक कहते हैं। महात्मा वगैरह तो मैं नहीं जानता लेकिन मैं सत्य का साधक हूँ। इस लिहाज से मुझे हिमालय ही जाना चाहिए। लेकिन मेरे भाई मैं तो समझता हूँ कि मेरा हिमालय वहीं है जहाँ मनुष्य की पीड़ा है। इसलिए फिलहाल मेरा हिमालय दिल्ली की सड़कों पर है। एक बार इस पीड़ा से सबको मुक्त कर लूँ उसके बाद आगे-आगे आप चलिएगा आपके पीछे मैं हिमालय चलूँगा। इसलिए कितना भी निर्वैयक्तिक और मिथकीय रूप क्यों न हो जाए गांधीजी का, हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के लिए गांधीजी सदा एक प्रेरक संभावना रहेंगे क्योंकि वे अन्ततः एक निपट मानव हैं, अन्ततः लगातार अपने-आप से संघर्ष करते हुए अपने आपको समझने का प्रयत्न करते हुए अपने नैतिक सार को पुनः अर्जित करने का प्रयास करते हुए मनुष्य हैं।

अन्त में, मित्रो एक प्रस्ताव आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ। एक मित्र ने कहा, “इस तरह की सभाएँ होती हैं भाषण होते हैं और ख़त्म हो जाता है किस्सा! कुछ ठोस निकालना चाहिए।” ठोस और तरल के बारे में तो नहीं कह सकता लेकिन एक प्रस्ताव आपके सामने रखना चाहता हूँ। इस प्रस्ताव का एक छोटा-सा इतिहास है। इस इतिहास को कहने के पहले मैं एक नैतिक धर्म संकट में हूँ क्योंकि इस प्रस्ताव के पीछे जो सज्जन हैं मुझे फ़ख़ होता है, गर्व होता है इस बात का मुझे ईश्वर ने ऐसे मित्र दिए हैं... इस प्रस्ताव के पीछे जो सज्जन हैं अभी तीन ही चार घण्टे पहले मुझे एस. एम. एस. मिला है उनका पेरिस से — “इस बारे में अगर कोई बात करो तो खबरदार मेरा नाम कतई न लेना।” उनके इस आग्रह की उपेक्षा करते हुए भी मैं उनका नाम लेना चाहता हूँ — मेरे एक मित्र हैं अक्षय बकाया। यहाँ मौजूद लोगों में बहुतों के मित्र व परिचित होंगे। पेरिस के इंटरनेशनल स्कूल में पढ़ाते हैं उन्होंने और उनके छात्रों ने — ये प्रस्ताव किया है कि हम गांधीजी के बलिदान दिवस को — 30 जनवरी को — विश्व अहिंसा दिवस के रूप में रेखांकित करें। अपने-अपने ढंग से। अपनी-अपनी जगहों पर, अपनी-अपनी सीमाओं में, अपने-अपने नवाचार और अपनी-अपनी कल्पनाओं के साथ हम अहिंसा की ताकत को, अहिंसा की मजबूती को, अहिंसा की नैतिकता को रेखांकित करें। ये कैसे हो किस तरह से इस पर सब अपने-अपने ढंग से सोचने के लिए स्वतंत्र हैं। किसी तरह का संगठित रूप अवश्य विकसित होना चाहिए। इस प्रस्ताव के साथ मैं वो मिशन स्टेटमेंट पढ़ना चाहता हूँ, जो अक्षय और उनके इंटर नेशनल स्कूल के छात्रों ने तैयार किया है।

हिंसापूर्ण समाज में हम अहिंसा को सर्वोच्च मूल्य के तौर पर स्वीकार करने की हिम्मत रखते हैं। अहिंसा अपने साथ-साथ दूसरो के लिए भी, सभी के लिए, सम्पूर्ण जीवन जीने के लिए जरूरी है।

हम जनवरी 30, जिस दिन महात्मा गांधी को तीन गोलियां मारी गयीं, को इस सम्पूर्ण काल्पनिक संसार में अहिंसा के प्रयोग दिवस के तौर पर मनाने को प्रस्तावित करते हैं। गांधी के लिए अहिंसा सत्याग्रह से अलग नहीं थी। उनके समय में इस तरह के आग्रह साधारण तौर पर लेकिन मजबूती के साथ हुआ करते थे। उदाहरण के लिए औपनिवेशिक कानून का विरोध करने के लिए समुद्र से देशी नमक बनाया गया। पेरिस के स्कूली बच्चे, जिन्होंने अहिंसा दिवस मनाने

2 अक्टूबर 2005 को दिए गए गांधी शांति प्रतिष्ठान व्याख्यान पर आधारित ।
गांधी शांति प्रतिष्ठान, 221 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली 110002 द्वारा प्रकाशित ।
इस पुस्तिका के प्रकाशन में गांधी स्मारक निधि, नई दिल्ली से मिले
आर्थिक सहयोग के लिए हम आभारी हैं ।

अगस्त 2006



गांधी शांति प्रतिष्ठान
नई दिल्ली